हमारे शहर की गलियाँ: एक

राजेश जोशी

बहुत आँकी बाँकी और चक्करदार थीं हमारे शहर की गलियाँ
कुछ गलियों के रास्ते तो आसमान से होकर निकलते थे

भटकते हुए उन गलियों में हमें कई बार तारे मिल जाते थे
अपनी लालटेनें लिये सिवान से लौटते किसानों की तरह
बिना बात ही वो हमसे बतियाने लगते और कुछ दूर तक
हमें रास्ता दिखाने चले आते
कभी कभी चाँद भी दिख जाता भटकता हुआ
या बैठा हुआ आसमान की सफील पर
चलन से बाहर हो चुके किसी पुरानी रियासत के सिक्के की तरह
उसका चेहरा कभी होता तो कभी चमकता रहता
खूब घिसकर माँजी गयी काँसे की थाली की तरह
वो भी शायद हमारी ही तरह बेरोजगार था या आवारा
रात में भटकना उसकी आदत में शुमार था

ये वो दिन थे जब हमारे सपनों और हककीकत के बीच
हमेशा झगड़ा मचा रहता था
हम झुकी हुई छतों वाले घरों से आये थे
जिनके दरवाज़ों इतने छोटे होते थे कि गरदन उठाते ही
बारसक के सिर फूटता था
सपने देखने की हमें बुरी आदत थी
हम सिनेमा देखकर रोते थे ओर हकीकत से आँख मिलाने से कतराते थे

भटकते हुए हमारे पाँव जब जवाब दे जाते
तो किसी बंद दुकान के पटिये पर या पुलिया पर बैठ जाते
कोई अपनी जेब टटोल कर बीड़ी का बंडल निकालता
और सबके लिए बीड़ियाँ सुलगाता
तीली की रोशनी में आसपास का मायालोक

एक पल को दरक जाता
आसमान उचक कर बहुत ऊपर चला जाता
और पाँवों के नीचे गलियों के ऊबड़खाबड़ पत्थर उभरने लगते
पीढ़ियों से इसी शहर में रह रहे यहाँ के बर्रू-काट बाशिन्दों को भी
खबर नहीं थी कि कितनी आँकी बाँकी और चक्करदार हैं
इस शहर की गलियाँ
कि कई गलियों के रास्ते तो आसमान से होकर निकलते हैं ।

.....